उपलब्धि सर्वेक्षणों का भूगोल और गांवों के स्कूल

ऋषभ कुमार मिश्र और रवनीत कौर

स्कूली शिक्षा की दशा और दिशा की व्याख्या करने के लिए वृहद् पैमाने के उपलब्धि सर्वेक्षणों का प्रयोग एक लोकप्रिय चलन है। पीसा (प्रोग्राम फॉर इंटरनेशनल स्टूडेंट असेसमेंट) और असर (ऐनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट) इसके उदाहरण हैं। इन रिपोर्टों के प्रकाशित होते ही अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर स्कूली शिक्षा की सेहत की चर्चाएं जोर पकड़ने लगती हैं। ये चर्चाएं सर्वेक्षण के लिए बनाये गये वैज्ञानिक मापन उपकरणों (उपलब्धि परीक्षण, अभिवृत्ति मापनी, संसाधन उपलब्धता चेकलिस्ट, उपस्थिति पंजिका के अवलोकन आदि) पर प्राप्त अंकों को आधार बनाकर की जाती हैं। इनके द्वारा सफलता और असफलता के कुछ वर्गों का निर्माण कर दिया जाता है। इन वर्गों के सापेक्ष शिक्षा की गुणवत्ता, अवसरों की समानता, शिक्षा के लिए किए गए नीतिगत प्रयासों के बारे में आकलन की कोशिश भी होती है। हाल में ही असर-2018 की रिपोर्ट जारी हुई है। इस रिपोर्ट में 596 जिलों के लगभग साढ़े तीन लाख ग्रामीण परिवारों और सोलह हजार स्कूलों के सर्वेक्षण के आधार पर प्राथमिक विद्यालयों तक बच्चों की पहुंच, उपलब्धि और विद्यालयों के ढांचागत संरचना के आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। यह रिपोर्ट ग्रामीण भारत में स्कूली शिक्षा की चिंताजनक स्थिति को उजागर करती है। इस रिपोर्ट में स्कूलों में नामांकन और बुनियादी सुविधाओं जैसे पैमानों पर सकारात्मक वृद्धि दर्ज की गई है लेकिन पढ़ने और गिनने जैसी कुशलताओं में विद्यालयों की खस्ता हालत भी उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिए इस रिपोर्ट में बताया गया है कि 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों का स्कूलों में नामांकन लगभग 95 प्रतिशत है (असर, 2018)। 11 से 14 वर्ष तक आयु की विद्यालय न जाने वाली लड़कियों का प्रतिशत 4.1 है (असर, 2018)। इस सार्थक बदलाव के लिए शिक्षा के अधिकार कानून के धरातल पर क्रियान्वयन को उत्तरदायी माना जा रहा है। इस वर्ष सरकारी स्कूलों के नामांकन प्रतिशत और निजी स्कूलों में नामांकन प्रतिशत लगभग बराबर है। ये आंकड़े उत्साहवर्धक हैं लेकिन गांवों में प्राथमिक शिक्षा की वास्तविकता के बारे केवल इनके आधार पर निष्कर्ष निकलना ठीक नहीं होगा। उदाहरण के लिए वर्ष 2018 में लगभग एक चौथाई सरकारी स्कूलों में विद्यार्थियों का नामांकन 60 प्रतिशत और इससे कम है (असर, 2018)। वर्ष 2008 में कक्षा 8 में पढ़ने वाले लगभग 85 प्रतिशत विद्यार्थी कक्षा 2 की किताब पढ़ सकते थे जबकि 2018 में इनकी संख्या घटकर लगभग 73 प्रतिशत हो गई है (असर, 2018)। इसी तरह कक्षा 8 के केवल 44 प्रतिशत बच्चे तीन अंकों में एक अंक से भाग देने की संक्रिया कर सकते हैं (असर, 2018)। इस तरह से असर की रिपोर्ट इस मान्यता को पुनर्बलित करती है कि स्कूल में प्रवेश लेना और बने रहना सीखना सुनिश्चित नहीं कर रहा है। इस निष्कर्ष को सिरे से तो खारिज नहीं कर सकते लेकिन केवल इसके आधार पर शिक्षा और उसकी प्रक्रियाओं के बारे में धारणाएं बना लेना भी ठीक नहीं है। ये सर्वेक्षण मापनीय सच्चाई के बारे में तो बताता है लेकिन इस सच्चाई तक पहुंचने वाले नजरिए का मूल्यांकन भी आवश्यक है। इसी पृष्ठभूमि में यह लेख वृहद् पैमाने के उपलब्धि सर्वेक्षणों (खासकर असर-2018) के औचित्य और व्याख्या को निम्नलिखित सवालों के आइने में देखता है-

- क्या उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांक शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना हो सकते हैं?
- क्या शैक्षिक अवसरों की समानता संसाधनों की उपलब्धता से संभव है?
- क्या शैक्षिक अवसरों की समानता व गुणवत्ता की दृष्टि से गांवों के स्कूल हाशिए पर हैं?

क्या उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांक शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना हो सकते हैं?

शिक्षा की गुणवत्ता को देखने का 'आर्थिक मॉडल' उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांकों को शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना मानता है। इसके अनुसार विद्यार्थियों के उपलब्धि-प्राप्तांक एवं अन्य मात्रात्मक आंकड़े जैसे- अध्यापकों की उपस्थिति, संसाधनों की उपलब्धता आदि शिक्षा के लिए किए गए निवेश से प्राप्त लाभ को दर्शाते हैं। यह मॉडल मानता है कि स्कूल में आना और बने रहना तब तक आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं होता है जब तक विद्यार्थी उन कुशलताओं से युक्त न बने जो उन्हें भावी उत्पादक बनाता है। यहां कुशलताओं की परिभाषा एक सीमित दृष्टि से की जाती है जिसके अंतर्गत गणित, भाषा, समस्या समाधान जैसी संज्ञानात्मक दक्षताओं को रखते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर असर रिपोर्ट में प्रयुक्त मापकों को देखा जा सकता है। वस्तुतः यह तरीका सीखने को व्यवहारवाद की सीमाओं में बांध देता है जहां कोई बाह्य एजेंसी क्या सीखना है, कैसे सीखना है, आदि को तय करती है। इसे तय करने में शिक्षा के भावी आर्थिक परिणामों और जरूरतों को ध्यान में रखा जाता है और बाह्य अवलोकनीय प्रभावों जैसे-उपलब्धि परीक्षणों द्वारा मापा जाता है। शिक्षा के आंतरिक गुण जैसे- एक सीखने वालों के समूह में रहना, उनके साथ विभिन्न गतिविधियों में भागीदारी करना, अनुभवों को साझा करना आदि गौण हो जाते हैं। असर जैसे परीक्षण जो बाह्य, मूर्त और मापनीय गुणों का मापन करते हैं इसी मॉडल के पूरक हैं जिसके आधार पर विद्यार्थियों के प्रदर्शन के माध्यम से वर्तमान में शिक्षा के लिए किए जा रहे निवेश और भविष्य में उसके आउटपुट के बारे में हम अनेक व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। ये व्याख्याएं बताती हैं कि शिक्षा में सुधार के कौन से उपाय कारगर रहे और कौन से नहीं। निहितार्थ की इनकी व्याख्याएं वर्तमान व्यवस्था में भावी पीढ़ी के फिट बैठने या अनुकूलित होने की संभावना पर आधारित हैं न कि सामाजिक रूपांतरण के वृहद् लक्ष्य की संभावनाओं पर। जबकि शिक्षा से हमारी अपेक्षाएं पहले लक्ष्य के बदले दूसरे लक्ष्य के करीब हैं।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा की गुणवत्ता को इस नजरिए से देखने की व्याख्या पद्मा सारंगपानी (2010) प्रस्तुत करती हैं। इनके अनुसार 1990 के दशक के पूर्व शिक्षा की गुणवत्ता को किसी अंतिम वर्ग या संकेतक से नहीं परिभाषित किया जाता था। इस दौर की नीतियों में औपनिवेशिक बोझ और विरासत जैसे- रटंत प्रणाली, परीक्षा पर जोर और किताबी ज्ञान के लिए सीखने से पार जाने की कसौटियों को गुणवत्ता का आधार माना गया था। इसके लिए जिन प्रक्रियागत सुधारों को अपनाया गया उनका लक्ष्य मात्रात्मक न होकर मूल्यपरक था। ये मूल्य एक आधुनिक गणतंत्र के राज्य-नागरिक संबंध से अनुप्राणित थे (कुमार, 2005)। 1990 के दशक के बाद से अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता से संचालित कार्यक्रमों का दौर आरंभ होता है। इस दौर में गुणवत्ता के मूर्त प्रमाण को विद्यार्थियों की उपलब्धि के रूप में देखा जाने लगा। इसकी प्राप्ति को शिक्षा व्यवस्था की सफलता का पैमाना माना गया। इसी समय केन्द्रीकृत प्रबंधकीय प्रणाली का जन्म हुआ जिसमें शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण और स्कूल के संसाधनों में सुधार तो सम्मिलित थे लेकिन शिक्षकों की स्वायत्तता, संदर्भ आधारित स्थानीय शिक्षण और स्कूल व्यवस्था के बाहर के चरों को शामिल नहीं किया गया। बच्चों की उपलब्धि को केवल संज्ञानात्मक चर माना गया जिसे पोषित करने के लिए स्कूल में ही प्रयोगशाला जैसी हर व्यवस्था को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया। ये व्यवस्थाएं बालकेन्द्रित शिक्षा की सतही व्याख्याओं पर आधारित थीं जो बच्चे की आनुभाविक दुनिया और सक्रियता को नियंत्रण और जोड़-तोड़ जैसी पद्धति की ओर ले गईं। संसाधनों की कमी को पूरा करके उपलब्धि बढ़ाना, विद्यार्थियों के व्यवहार और संज्ञान का उद्दीपन, उनके सांवेगिक पक्ष का लगभग उपेक्षित हो जाना, शिक्षकों और स्कूल की गतिविधियों को उपलब्धि केन्द्रित बनाना आदि, इसके कुछ उदाहरण हैं। जबकि अनेक गैर संज्ञानात्मक कारक बच्चों की उपलब्धि को प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ चर अभिभावकों की आर्थिक पृष्ठभूमि, साक्षरता स्तर, जेंडर, स्कूली शिक्षा आरंभ करने की आयु, अधिवास की पृष्ठभूमि हैं (मसीनो और नीरोनानजुआ, 2016)। इन गैर संज्ञानात्मक कारकों के आधार पर अध्येताओं का मानना

है कि बच्चों की औपचारिक शिक्षा में सफलता या असफलता के बीज उनके स्कूल में प्रवेश करने से पूर्व पड़ जाते हैं। ये उसके पक्ष में झुके होते हैं जिसकी संस्कृति, अपेक्षाओं और आख्यानों को औपचारिक शिक्षा में जगह मिलती है (फ्रेजर, 1995)। शैक्षिक अवसरों की समानता के इन आयामों को उपलब्धि-सर्वेक्षण समाहित नहीं करते हैं। जब केवल इन प्राप्तांकों के आधार पर शिक्षा के गुण की व्याख्या करते हैं तो शिक्षण विधियों, संदर्भ के अनुसार अनुकूलित पाठ्यचर्या और अध्यापकों की स्वायत्तता जैसे प्रक्रियागत पहलुओं के बारे में भी कोई जानकारी नहीं मिलती है। जबकि औपचारिक शिक्षा के ये आयाम सीखने की प्रक्रियाओं को शिक्षा के लक्ष्यों के अनुरूप नियोजित करते हैं।

इसी तरह यह रिपोर्ट एक अन्य विरोधाभास को जन्म देती है। जब बच्चा नहीं सीखता है तो वह और उसकी पृष्ठभूमि जिम्मेदार है और यदि वह बेहतर सीखता है तो उसके लिए स्कूल की भूमिका उल्लेखनीय है। तो सीखने-सिखाने के लिए वास्तविक जिम्मेदार कौन? यदि स्कूल, तो हर वह बच्चा जो स्कूल में है उसे सीखना चाहिए। यदि बच्चा, तो वह किसी भी स्कूल में हो सीखेगा ही। इस विरोधाभास की व्याख्या कैसे करेंगे? गुणवत्ता का यह मॉडल उक्त विरोधाभास का निदान करते हुए मान लेता है कि मध्यमवर्गीय और नगरीय स्कूलों (जो अधिकांशतः निजी हैं) में जाने वाले बच्चों के अभिभावक पैसे देकर शिक्षा के गुण को खरीद सकते हैं। समस्या उनके साथ है जो धन से गुण को नहीं खरीद पा रहे हैं। जो खरीदने में समर्थ हैं उनकी उपलब्धि के बराबर, जो नहीं खरीद सकते हैं उनकी उपलब्धि को पहुंचाने को अपेक्षित स्थिति माना जा रहा है। इस अपेक्षित से ताल-मेल न बैठा पाने वाले बच्चे और स्कूल के लिए उपचारात्मक प्रयास किए जाते हैं मानो वे किसी संक्रामक बीमारी से ग्रस्त हों। उन्हें अलग-अलग विशेषण दिए जाते हैं जो उनकी असफलता को बताते हैं लेकिन स्कूल की अधिगम पारिस्थितिकी के बारे में चर्चा नहीं की जाती है। यदि असर की रिपोर्ट का अवलोकन करें तो इसमें विद्यार्थियों की भागीदारी, अध्यापक-विद्यार्थी संबंध, कक्षा में होने वाली अधिगम की गतिविधियों आदि के बारे में न के बराबर जानकारी है। यह रिपोर्ट गांव के स्कूलों को ऐसी जनसंख्या मान रही है जो अपेक्षित उपलब्धि की प्राप्ति के अभाव में गुणवत्ता के पैमाने पर पीछे होते जा रहे हैं। जबकि सच्चाई है कि ऐसा कोई अंतिम और सर्वमान्य पैमाना नहीं है।

कृष्ण कुमार (2005) का मानना है कि शिक्षा स्वयं एक गुण है इसके किसी घटक या आयाम के सापेक्ष गुण की खोज 'गुण' के अर्थ को सीमित कर देता है। इसी प्रभाव का अवलोकन हम असर की रिपोर्ट में कर सकते हैं। असर जैसे सर्वेक्षणों के आधार पर स्कूली शिक्षा के बारे में निष्कर्ष निकालने के उतावलेपन के बारे में आगाह करते हुए दिशा नवानी (2018) का भी मानना है कि बड़े पैमाने पर बच्चों के उपलब्धि परीक्षण के आधार पर गुणवत्ता, दायित्व और शैक्षिक अवसरों की समानता के बारे में केवल आंशिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ये परीक्षण मापन की वैज्ञानिक कसौटियों जैसे- विश्वसनीयता, वैधता, आंकड़ों के चयन आदि पर केन्द्रित होते हैं जबकि कक्षा में क्या हो रहा है? बच्चों और शिक्षकों के आपसी संबंध कैसे हैं? पाठ्यचर्या की प्रकृति क्या है? सीखने वालों के पूर्व ज्ञान के समावेश की संभावनाएं हैं या नहीं जैसे शिक्षणशास्त्रीय सवालों पर ये लगभग मौन रहते हैं। ये तथ्य असर की रिपोर्ट के संदर्भ में भी ठीक बैठते हैं। यदि रिपोर्ट में प्रस्तुत आंकड़ों को देखें तो एक बड़ा हिस्सा भाषा, गणित और समस्या समाधान से जुड़ी उपलब्धियों को दिखाता है। फिर संसाधन और संरचनागत उपलब्धियों का विस्तृत ब्यौरा है जिसमें शौचालय, खेल का मैदान, बिजली, अध्यापकों और बच्चों की उपस्थिति, दोपहर के खाने आदि का जिक्र है। इस रिपोर्ट में शिक्षण और मापन का अंतराल देखा जा सकता है। इसकी समीक्षा पर आधारित अधिकांश लेख और विचार इस दिशा में बढ़ रहे हैं कि स्कूलों में कुछ नहीं पढ़ाया जा रहा है, स्कूलों में पढ़ाया जा रहा है लेकिन बच्चे नहीं सीख पा रहे हैं। क्या यह सवाल पूछा गया कि स्कूलों में क्या और कैसे पढ़ाया गया और क्या इस शिक्षण के दौरान सीखने के लिए आकलन के उपागम द्वारा बच्चों की जो उपलब्धि मापी गई उसके कुछ सार्थक निहितार्थ हैं। शिक्षण स्थानीय परिवेश, पूर्वज्ञान और परिस्थितियों के सापेक्ष होता है जबकि उपलब्धि सर्वेक्षणों में मापन एक मानकीकृत और सीमित समय में लिए गए टेस्ट पर आधारित होता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ज्यां पियाजे का सिद्धान्त ऐसे ही परीक्षणों पर गलत उत्तर देने वाले बच्चों के जवाब की उपज था। जो बच्चे असर जैसे वृहद् उपलब्धि सर्वेक्षणों पर असफल हो रहे हैं, शायद उनके उत्तरों का गुणात्मक विश्लेषण एक भिन्न तस्वीर प्रस्तुत कर सकता है जिसमें समस्या के बदले संभावनाएं हो सकती हैं!

क्या शैक्षिक अवसरों की समानता संसाधनों की उपलब्धता से संभव है?

शैक्षिक अवसरों की समानता के संदर्भ में भारतीय नीतियों में 'संसाधनों की उपलब्धता' के उपागम को अपनाया गया है। यदि पिछले 30 वर्षों के दौरान प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए किये गए प्रयासों को देखें तो शिक्षकों की भर्ती, उनका प्रशिक्षण, किताबों की उपलब्धता, आधारभूत संरचना की उपलब्धि, छात्रवृत्ति, वर्दी, भोजन आदि संसाधनों की उपलब्धता का उदाहरण देख सकते हैं। यह उपागम स्कूलों के स्तर पर विभेदीकरण को स्वीकार करता है। इसकी अंतर्निहित मान्यता है कि कुछ स्कूल सीखने के अच्छे अवसर इसलिए उपलब्ध करा पाते हैं क्योंकि उनके पास संसाधनों की उपलब्धता है। जो स्कूल अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पा रहे हैं यदि उनमें ये संसाधन उपलब्ध करा दिये जाएं तो वे भी अच्छा प्रदर्शन करने लगेंगे। इसी तरह यह उपागम मानता है कि सभी विद्यार्थी ऐसी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति में नहीं हैं कि वे शिक्षा के अवसरों का लाभ उठा पाएं। इसलिए शैक्षिक उपलब्धि जैसे आकलन मापदंडों पर इन बच्चों की सफलता के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता है। संसाधन उपलब्धता का उपागम 'विशेष सहायता' के लिए स्कूल को ऐसे केन्द्र के रूप में देखता है जहां वे सभी संसाधन और सुविधाएं मुहैया कराये जाने चाहिए जो किसी भी वंचित या हाशिए के समाज के बच्चे को अन्य बच्चों के समान विकास का अवसर उपलब्ध कराएं। यह उपागम गरीबी, पढ़ाई में कमजोर होना, विद्यालयी शिक्षा पूरी न होना और भविष्य में रोजगार-बाजार में असफलता की अधिक प्रायिकता को परस्पर संबंधित मानता है और इन समस्याओं को स्कूलों और बच्चों के परिवारों को अतिरिक्त वित्त प्रदान करके, पर्याप्त मात्रा में शिक्षकों अथवा पैरा-शिक्षकों की नियुक्ति करके, स्कूली शिक्षा के लिए तैयार करने के कार्यक्रम चलाकर, लड़कियों व आदिवासियों के लिए अलग से स्कूल खोलकर पूरा करना चाहता है। जब राज्य की सहायता से स्कूल संसाधन की बाधा को पार करने के लिए तत्पर हैं तो यह अपेक्षित है कि विद्यार्थियों की उपलब्धि में सुधार होगा जो उनकी भावी सफलताओं का आधार बनेगा। अंततः स्कूल भी एक संसाधन बन जाता है। इस संसाधन के कार्यकारण का आकलन असर जैसी रिपोर्ट में किया जाता है जिसमें गुण के बदले मात्रा पर जोर रहता है। इन रिपोर्टों में संसाधन के सुधरे हालत के सराहनीय आंकड़ें पूर्ति पक्ष की तत्परता को दिखाते हैं। ये बताते हैं कि अच्छी शिक्षा के लिए जो संसाधन जरूरी थे वे प्रदान कर दिए गए। अब ये स्कूल सीखने-सिखाने की दृष्टि से संसाधन संपन्न हैं और यहां वैसी ही अधिगम गतिविधियां हो सकती हैं जैसी कि निजी स्कूलों में। यदि स्कूलों के हालत सुधर गए थे तो सरकारी विद्यालयों के समान्तर निजी विद्यालय क्यों फल-फूल रहे हैं? इसका उत्तर संसाधन पूर्ति के तर्क द्वारा संभव नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में मुरलीधरन (2006) का अध्ययन महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रदान करता है। इस अध्ययन में पाया गया कि निजी स्कूलों में पुस्तकालय, खेल के समान, शिक्षण अधिगम सामग्री की सुविधा सरकारी स्कूलों की तुलना में कम है। शिक्षकों का वेतन और सुविधाएं सरकारी विद्यालयों की तुलना में अतिनिम्न हैं लेकिन उनकी संख्या अधिक है। इस तरह से ये विद्यालय संसाधन उपलब्धता की दृष्टि से सरकारी विद्यालयों से पीछे ठहरते हैं। लेकिन वे किताबी ज्ञान को परंपरागत विधि द्वारा ही तैयार कराके अच्छे अंक लाने का रास्ता साफ कर रहे हैं। यहां शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात कम है। बहुस्तरीय कक्षाएं न के बराबर हैं। वे बाजार की प्रवृत्ति के अनुकूल अंग्रेजी पढ़ा रहे हैं। सीखने-सिखाने की गतिविधियों में व्यवहारवादी पद्धति के अनुरूप अधिक समय देकर अपेक्षित परिणाम पैदा कर रहे हैं। इन्हीं परिस्थितियों में इन स्कूलों के विद्यार्थियों की उपलब्धि सरकारी स्कूलों की तुलना में अधिक होती है। इनकी स्वीकृति और इनके प्रति बढ़ता आकर्षण रटंत प्रणाली, परीक्षोन्मुख शिक्षण अधिगम को बनाए रखने का उदाहरण है। यहां अध्यापक केवल किताबी ज्ञान देते हैं। इनमें से अधिकांश किताबें निजी प्रकाशकों की होती हैं। इस तरह के माहौल में जानने वाले की सत्ता, सक्रियता और सामाजिक सच्चाई के प्रति समझ आदि बातें गौण हो जाती हैं। यह आंकड़ा हमारे मापन में भी नहीं आ पाता है। उपलब्धि सर्वेक्षण तो बताते हैं कितने प्रतिशत जवाब सही थे? इन सही जवाबों को सीखने की विधि और सामग्री के प्रति वे पूरी तरह से मौन रहते हैं।

शिक्षा के लिए संसाधनों की उपलब्धता अपरिहार्य है लेकिन केवल यही शैक्षिक अवसरों की समानता को सुनिश्चित करे यह अनिवार्य नहीं है। इसी आधार पर अनिल सद्गोपाल (2016) संसाधन पूर्ति उपागम की आलोचना करते हुए

जोर देते हैं कि इसके मूल में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली एजेंसियों का नवउदारवादी एजेंडा कार्य कर रहा है। इसके प्रभाव में 'नागरिक' उपभोक्ता बन गए हैं और राज्य बाजार की ताकतों का समर्थन कर रहा है। इस दशा में शैक्षिक अवसरों की समानता के बहाने सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक और भौगोलिक असमानताओं को 'प्राकृतिक' सिद्ध किया जा रहा है। राज्य संसाधनों को प्रदान करने के बाद इसके उपभोगकर्ताओं की सफलता और विफलता से अपना पल्ला झाड़ ले रहा है। वह केवल प्रचारित कर रहा है कि गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसरों की कमी नहीं है लेकिन शिक्षा की प्रक्रिया में भागीदारी, अन्तःक्रिया, पारस्परिक संबंधों और निर्णय लेने की प्रक्रिया में हाशिए के समाज के लिए अवसरों की उपलब्धता में इसका कोई योगदान नहीं है। वाइनर (1991) बताते हैं कि संसाधनों के वितरण की प्रक्रिया में वर्चस्वशाली वर्ग का प्रभाव रहता है। यह वर्ग नीति और राज्य के दबाव में संसाधन तो उपलब्ध करा देता है लेकिन इनकी शासन करने की इच्छा हाशिए के समाज के लोगों के शैक्षिक अवसरों को बाधित करती है। ये लोग अपनी अन्तःक्रियाओं और आपसी रिश्तों में हाशिए के समुदाय से आने वाले बच्चों के प्रति उदासीन रहते हैं। हाशिए के समुदाय के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता व उनकी जरूरतों को संबोधित करने के लिए केवल वस्तु या धन की आवश्यकता नहीं है। समानता के लिए संसाधन के साथ मुख्यधारा में स्वीकृति, सम्मान, स्वागत, भागीदारी की भी आवश्यकता होती है। केवल विभिन्न पृष्ठभूमियों के विद्यार्थियों के स्कूल आ जाने मात्र से समानता सुनिश्चित नहीं हो जाती है। यह अवसरों की समानता का आरंभ बिंदु है। उनके साथ स्कूल में कैसे व्यवहार किया जा रहा है? उन्हें कितनी स्वीकृति है? उनके समाज और इतिहास की पाठ्यक्रम और स्कूल की अन्य गतिविधियों में कैसी प्रस्तुति है? विद्यार्थियों के समुदाय और परिवार की स्कूल के निर्णयों में कितनी भागीदारी है? आदि पहलु उनके समायोजन के साथ ही सीखने को भी प्रभावित करते हैं। अवसरों की समानता के इन पक्षों को नैंसी फ्रेजर (1995) स्वीकृति और राजनीतिक भागीदारी द्वारा सामाजिक न्याय की संज्ञा देती हैं। आपके अनुसार शैक्षिक अवसरों की समानता कोई संज्ञा नहीं बल्कि 'क्रिया' है जो अवसरों और संभावनाओं के रास्ते को खोलती है। यह अपने भागीदारों के अस्मिता बोध को मजबूत करती है। स्कूली ज्ञान और जानने के तरीकों को पुनर्परिभाषित करते हुए सांस्कृतिक अंतराल को पाटती है। अवसरों की समानता के इस स्वरूप का आकलन केवल उपलब्धि मापन से संभव नहीं है।

क्या शैक्षिक अवसरों की समानता व गुणवत्ता की दृष्टि से गांवों के स्कूल हाशिए पर हैं?

भारत के गांवों में स्कूली शिक्षा की स्थिति के बारे में होने वाले अधिकांश शोधों ने असर की रिपोर्ट को महत्वपूर्ण स्रोत माना है (अग्रवाल, 2014; फ्रेंच और किंगडन, 2010)। यह अवलोकनीय है कि अब तक असर के 6 सर्वेक्षण प्रकाशित हो चुके हैं। ये सभी भारत के गांवों में स्कूली शिक्षा की खराब सेहत को दर्शाते हैं। असर के अलावा गांवों में शिक्षा की स्थिति को मापने के अधिकांश सर्वेक्षण उपलब्धि, उपस्थिति, संसाधन की उपलब्धता जैसे आयामों पर इन्हें पीछे ही बताते हैं (प्रिन्चेट और बीटी, 2005, अल्कॉट और रोज 2017)। लेकिन किससे? गांवों के स्कूलों का यह पिछड़ापन सापेक्षिक होता है। प्रायः ये आधुनिक नगरीय स्कूलों की तुलना में पीछे होते हैं। इसका अवलोकन हम असर रिपोर्ट में भी कर सकते हैं। इस तरह के सर्वेक्षणों में शिक्षा की निराशाजनक स्थिति का कारण विद्यार्थियों के परिवारों की कमजोर आर्थिक हैसियत, शिक्षकों की अनुपस्थिति, शिक्षण में नवाचार के अभाव, नगर जैसे अन्य संसाधन केन्द्रों से दूरी, सुविधाओं के अभाव, जागरूकता की कमी आदि को बताते हैं। इन तर्कों में अंतर्निहित है कि गांव स्वाभवतः आधुनिकता जनित नवाचार और प्रयोगों के प्रभाव से दूर स्थित भौगोलिक इकाई हैं (गुप्ता, 2004)। किसी भी नए प्रयोग का प्रवाह उन तक नहीं पहुंच पा रहा है। इस दशा में यह निहितार्थ निकलता है कि गांव की उक्त कमी को पूरा करने के लिए राज्य, शिक्षण और प्रयोग आदि की उन गतिविधियों को करने-करवाने का माहौल तैयार करे जो सफल केन्द्रों यानि नगरों में हो रही हैं। इस तरह से सफलता के पर्याय के रूप में शहर की संस्कृति का उत्पादन शिक्षा का लक्ष्य हो जाता है। इसी लक्ष्य में शिक्षा सफल नहीं हो रही है। असर की रिपोर्ट भी यही संकेत करती है। शिक्षा के इस तरह के लक्ष्य से गांव को दोहरा नुकसान हो जाता है। पहला, तो गांव के बच्चों को अपनी मूल संस्कृति से

कटना होता है दूसरा, नई संस्कृति में उनकी प्रस्तुति ही पिछड़े और असफल की होती है। इसका ठीकरा व्यवस्था के कारणों में न देखकर गांव वालों के सिर फोड़ दिया जाता है। जब राज्य ने संसाधन उपलब्ध करा दिए और गांव के केन्द्रों पर नगर जैसा माहौल तैयार कर दिया तब भी बच्चे असफल हो रहे हैं तो कम से कम जिम्मेदारी राज्य की नहीं होगी क्योंकि उसने संसाधन के वितरण के प्रयास तो किए हैं। बच्चों को सीधे-सीधे दोष देना बाल केन्द्रित शिक्षा की कसौटियों से मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में सिद्ध किया जाता है गांव ही ऐसी इकाई है जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा में बाधक है। जबकि अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में बताया गया है अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक बाधाओं के बावजूद गांव के लोग, चाहे वे भूमिहीन मजदूर ही क्यों न हो, शिक्षा के महत्व को स्वीकार रहे हैं। अपने बच्चों को स्कूल भेज रहे हैं। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे स्कूल में बने रहें (अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, 2004)। इसी तरह सुधा नारायन और सौम्या धनराज (2017) ने अपने अध्ययन में पाया कि गांव के बच्चे घर के कामों के लिए स्कूल की अवधि से समझौता नहीं करते बल्कि वे अपनी अन्य गतिविधियों जैसे- खेल आदि का समय घरेलू कार्यों को देते हैं। इस तरह के अध्ययन प्रमाण हैं कि गांव की आबादी औपचारिक शिक्षा में भागीदार बनने को तैयार है और बन रही है। लेकिन जब गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का आशय केवल विद्यार्थियों की उपलब्धियों से लिया जाता है तो उनकी भागीदारी और शिक्षा की तत्परता अंकों में गुम हो जाती है।

गांवों के स्कूलों में स्थानीय अधिगम पारिस्थितिकी को अस्वीकृत करके नगरीय पारिस्थितिकी के समतुल्य कृत्रिम परिवेश का निर्माण करके शिक्षण किया जाता है (कुमार, 2014)। इस पूरी प्रक्रिया में हम गांव को आर्थिक, भौगोलिक और जनांकिकीय इकाई मानते हैं जबकि यह एक सांस्कृतिक इकाई भी है जिसका अस्तित्व केवल नगर के 'विलोम' रूप में नहीं है। यह जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की इकाई हैं जहां भारतीय समाज की विविधता और विभेद अपने वास्तविक रूपों में सक्रिय हैं। आज के गांव 20 वीं शताब्दी के गांवों की तरह अध्ययन की बंद इकाईयां नहीं हैं बल्कि वे सूचना क्रांति और वैश्वीकरण के प्रभाव में समय व दूरी के पैमानों पर नगरों से अपना रिश्ता कायम कर चुके हैं (जोधका, 2012)। अन्य संस्थागत संरचनाओं के समान स्कूल भी इनके प्रभाव में आ चुके हैं। समस्या यह है कि शिक्षा और इस जैसे अन्य हस्तक्षेपों की कार्ययोजना में जिस 'उत्थान उपागम' को अपनाया जाता है वह 'गंवईपन' से मुक्त करे या न करे, लेकिन 'गांव' से मुक्त होने के लिए अभिप्रेरित जरूर करता है। तो क्या मान लिया जाए कि गांव स्वभावतः ऐसी इकाई हैं जहां शिक्षा की संस्थाएं, संसाधन और प्रयास असफल हो रहे हैं? या ऐसा है कि जो शिक्षा हम देना चाह रहे हैं वह गांव के लिए है ही नहीं। अक्सर ऐसे तर्क दिए जाते हैं गांव नगर और प्रशासनिक केन्द्रों से दूर हैं, वहां संसाधन की उपलब्धता नहीं है, वहां शिक्षा की सेवा देने वाले नहीं है। इनका आधार नागरिकता और आधुनिकता का वह चश्मा है जो विकास और नगर को एक दूसरे का पर्यायवाची मानता है। जिसका मानना है कि नगर के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक भौगोलिक इकाइयों को नगर बन जाना चाहिए (कुमार, 2014)। इस मान्यता के साथ काम कर रही योजनाएं बच्चों की असफलता के लिए गरीबी को उत्तरदायी मानती हैं जबकि गांवों की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी कैसे संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन और उपभोग की प्रवृत्तियों और रोजमर्रा के सामाजिक व्यवहारों व अन्तःक्रियाओं द्वारा कुछ लोगों को हाशिए पर ढकेल रही है इस पर विचार नहीं किया जाता है। आधुनिक भारत के स्कूलों के इतिहास ने जिस आभिजात्य रंग से इस संस्था को रंग दिया है उसके कारण भी गांव और नगर का सांस्कृतिक अंतराल इतना गहरा हो चुका है कि शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में गांव पीछे होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से गांव के स्थानीय अभ्यासों, रीति-रिवाजों, बोली-भाषाओं यहां तक की देशज ज्ञान आदि को औपचारिक शिक्षा में न के बराबर जगह मिल रही है। इससे एक सांस्कृतिक असंबद्धता पैदा हो रही है जिसे भवन, शिक्षक, किताब, दोपहर के खाने और कम्प्यूटर आदि से नहीं पाट सकते हैं। इसी का परिणाम है कि गांव के सरकारी स्कूल अनकही विभाजक रेखा बन गए हैं जो आर्थिक, धार्मिक, जेंडर, और जातिगत वंचितों के लिए हैं। इनके लिए स्कूल एक 'दूसरी दुनिया' बनता जा रहा है। वे अपनी मूल दुनिया से इस दूसरी दुनिया की यात्रा में खुद को अनुकूलित नहीं कर पा रहे हैं। औपचारिक शिक्षा की एक सांस्कृतिक पारिस्थितिकी होती है। इस सांस्कृतिकी पारिस्थितिकी में

स्कूल और उसके भीतर की दुनिया से कहीं अधिक बाहर की दुनिया का हिस्सा होता है। इस पूरी पारिस्थितिकी के प्रभाव में अधिगम होता है और सीखने की प्रक्रिया अधिगम पारिस्थितिकी को भी प्रभावित करती है। इसी कारण गांव के स्कूलों के शहरीकरण का परिणाम बच्चों की उपलब्धि में नहीं दिख रहा है। विडंबना देखिए हम उपलब्धि के अंतराल की व्याख्या सामाजिक-सांस्कृतिक हीनता द्वारा कर रहे हैं। जबकि सच्चाई है कि गांव और शहर की स्थानिक इकाइयों के सापेक्ष शिक्षा का शहरीकरण गांव के बच्चों की आनुभविक दुनिया को सीमित कर देता है। इस आनुभविक दुनिया में सामाजिक सच्चाइयां, पुरातनपंथी विचार, देशज ज्ञान, सांस्कृतिक आख्यान सभी सम्मिलित होते हैं। इस दुनिया का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने और अपने हस्तक्षेप से इसकी पुनर्रचना करने वाले नागरिकों का निर्माण शिक्षा का लक्ष्य है। इस दुनिया से काटकर सर्जनशील मस्तिष्क की रचना नहीं हो सकती। हां यह जरूर है कि उत्पादक श्रमिक तैयार हो जाएगें!

यदि स्कूलों की दशा, विशेष रूप से गांव के स्कूलों को सुधारना है तो केवल संसाधन सुलभता और उपलब्धि मापन की दृष्टि से बाहर निकलना होगा और सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ताओं को तोड़ते हुए उन्हें ऐसे स्थान के रूप में देखना होगा जहां सीखना वैसे ही संभव है जैसे किसी आदर्श प्रयोगशाला रूपी विद्यालय में। तभी शिक्षा के द्वारा सामाजिक -राजनीतिक समानता के वृहद् लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा। हमें मानना होगा कि सभी बच्चे स्कूल जाएं और सबको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिले, ये दो धाराएं न होकर एक दूसरे से परस्पर संबंधित और अपरिहार्य शर्तें हैं। इनमें से किसी एक को पूरा करके संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता है। बच्चों की असफलता का ठीकरा केवल स्कूल के संस्थागत कारणों पर नहीं फोड़ा जा सकता। अक्सर संसाधनों का अभाव और शिक्षकों के गैर पेशेवर रवैये को दोष दिया जाता है। इतना तो तय है कि उन्हें कटघरे में खड़ा करके हल नहीं खोजा जा सकता है। इस समस्या के समाधान के वे केन्द्रीय अभिकर्ता हैं। उन पर संदेह करने और उनके कार्यों की निगरानी के बजाय विश्वास करना होगा। उन्हें समर्थ बनाना होगा कि वे समानता के लिए शिक्षा के रूपान्तरणकारी लक्ष्य में भागीदार बने। इसी तरह पाठ्यचर्या के बोझ को कम करना, पास-फ़ेल की नीति में बदलाव या बाल केन्द्रित शिक्षा के बहाने संसाधनों की भरमार का तर्क भी उम्मीद नहीं बढ़ाता है। ऐसे तर्कों को सर्व शिक्षा अभियान के जमाने से आजमाया जा रहा है। सीखने की विधि, सामग्री और दिनचर्या को बच्चे के संदर्भ के अनुसार अनुकूलित करना होगा। यह विचार करना होगा कि कैसे शिक्षा की प्रक्रिया में 'गांव' और 'नगर' का अंतर कम हो सके। हमें गांव के बच्चों को 'शहरों वाली स्कूली' शिक्षा देने के स्थान पर गांव के समाज, कुदरत और संस्कृति के साथ पढ़ाना होगा। हमें समुदाय की भागीदारी को भी सार्थक बनाने का प्रयास करना होगा। हमें पूर्व प्राथमिक शिक्षा, बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की सुविधा को मजबूत करना होगा। इससे औपचारिक स्कूली शिक्षा की तैयारी और सीखने की तत्परता में सहयोग मिलेगा। अंततः यह स्थापित करना होगा कि समस्या न तो बच्चे के संज्ञान में है न ही उसकी पृष्ठभूमि में बल्कि राज्य और उसके अभिकर्ताओं को बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार सुनिश्चित करने का हर संभव प्रयास करना है।

आभारः इस लेख पर अपनी राय देने के लिए लेखकद्वय श्री प्रमोद पाठक, श्री मनीष और श्री समरजीत यादव के आभारी हैं। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

संदर्भ

- Agrawal, T. (2014). Educational inequality in rural and urban India. International Journal of Educational Development, 34, 11-19
- Alcoot, B. and Rose, P. (2017). Learning in India'a primary schools: How do disparities widen across the grades? International Journal of Educational Development, 56, 42-51

- Annual Status of Education Report (2019). Annual Status of Education Report-2018. New Delhi: Aser Centre
- Azim Premji Foundation (2004). The social context of elementary education in rural India. (http://righttoeducation.in/sites/default/files/TheSocialContextofElementaryEductaioninRuralIndia.pdf)
- Fraser, N. (1995). From redistribution to recognition: Dilemmas of justice in a 'postsocialist' age. New Left Review, 212(7), 68-93
- French, R. and Kingdon, G. (2010). The relative effectiveness of private and government schools in rural India: Evidence from ASER Data. DoQSS Working Paper No. 10. London: Institute of Education
- Gupta, D. (2004). Whither the Indian Village? Culture and agriculture in rural India. Chennai: Madras Institute of Development Studies.
- Jodhka, S. (Ed.) (2012). Village Society. New Delhi: Orient Black Swan.
- Kumar, K. (2005). Quality of Education at the beginning of 21st Century- Lessons from India. Indian Education Review, 41 (1), 4-26.
- Kumar, K. (2014). Rurality, Modernity and Education. Economic and Political Weekly, 59 (22), 1-6.
- Marino, S. and Nino-Zarazua, M. (2016). What works to improve the quality of student learning in developing countries. International Journal of Educational Development, 48, 53-65
- Muralidharan, K. & Kremer, M., (2008). Public and private schools in rural India. In Peterson, P., Chakrabarti, R. (Eds.), School Choice International. Cambridge: MIT
- Narayanan, S. and Dhanaraj, S. (2017). Child work and Schooling in rural north India. Working Paper 157/2017. Chennai: Madras School of Economics
- Nawani, D. (2018). Assessing ASER 2017: Reading between the lines. Economic and Political Weekly. 53(8), 14-18
- Pritchett, L. and Beatty, A. (2015). Slow Down, You are going too fast: Matching curricula to student skill levels. International Journal of Educational Development, 40, 276-288
- Sadgopal, A. (2016). An agenda of exclusion: 'Skill India' or Deskilling India. Economic and Political Weekly, 51(35), 33-37
- Sarangpani, P. (2010). Qualtity concerns: National and Extra National Dimensions. Contemporary Education Dialogue, 7(1), 41-51
- Weiner, M. (1991). The Child and the State in India. New Delhi: Oxford University Press.